

श्रीअरविन्द के प्रकाश में मायावाद के तार्किक निहितार्थों का आलोचनात्मक अध्ययन

संगीता शुक्ला*

भारतीय दर्शन में माया की अवधारणा दार्शनिकों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है, क्योंकि भारतीय दार्शनिकों ने माया को ही आधार बनाकर यथार्थ सत्ता एवं सम्यक् जगत् का निरूपण किया है। श्रीअरविन्द के दर्शन में भी माया की अवधारणा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसका इतना महत्व है कि माया को समझे बिना इनके तत्व दर्शन को नहीं समझा जा सकता है। श्रीअरविन्द दर्शन में माया केन्द्रीय सिद्धान्त है तथा उनका समग्र अद्वैतवाद उनकी मायावादी अवधारणा पर ही टिका है।

माया संस्कृत का एक सारगर्भित शब्द है। विश्व की किसी दूसरी भाषा में इसका पर्याय नहीं है। यदि शाब्दिक अर्थ या शब्द की व्युत्पत्त्यात्मक दृष्टि से देखें तो माया शब्द दो अक्षरों से बना है 'मा' और 'या'। 'मा' का अर्थ 'नहीं' तथा 'या' का अर्थ 'जो' होता है। इस प्रकार 'जो नहीं है' वह माया है। इस दृष्टि से माया एक अभावात्मक और निषेधात्मक प्रत्यय है।

किन्तु वेद और उपनिषदों में माया को भावात्मक और स्वीकारात्मक प्रत्यय के रूप में ग्रहण किया जाता है। वहाँ इसका अर्थ परमार्थ तत्व की वास्तविक शक्ति है। दार्शनिक प्रश्नों का समाधान माया के सर्जनात्मक और वास्तविक शक्ति के अर्थ में ही निहित है। ऋग्वेद का सबसे प्रसिद्ध वाक्य है – 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' ¹ अर्थात् इन्द्र माया शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार ईश्वर माया से अनेक रूप प्रतीत होता है। उसके शरीररूपी रथ में शत और दश इन्द्रियरूपी घोड़े जुड़े हुए हैं ² यहाँ माया ऐसी शक्ति है जो विभिन्न रूप धारण करती है। यह जीव से लेकर जगत् तक विभिन्न रूपों में व्याप्त है। माया का इस अर्थ में व्याख्यान यह प्रमाणित करता है कि माया दैवी, सर्जनात्मक और वास्तविक शक्ति है।

शांकर वेदान्त में माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, अध्यारोप, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम सदसदनिर्वचनीय आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः पर्याय के रूप में किया गया है। इनमें भी अधिकांशतः माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास और विवर्त शब्दों का

पर्यायार्थक प्रयोग हुआ है। यदि हम शांकर वेदान्त की मूल ध्वनि का अवलोकन करें तो एकमात्र ब्रह्म को छोड़कर अन्य सभी कुछ, सभी सत्तायें, समस्त अवधारणायें, पारमार्थिक दृष्टि से पारमार्थिक स्तर पर निःशेष हो जाती हैं। उनका कोई मौलिक और सार्थक अस्तित्व या योगदान नहीं रह जाता। किन्तु इस सन्दर्भ में हम शांकर वेदान्त में माया की अवधारणा के तार्किक निहितार्थों का स्वयं कोई आकलन न करके समकालीन भारतीय चिन्तन में श्रीअरविन्द के दार्शनिक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा निरूपित माया की अवधारणा का उल्लेख करते हुए फिर दोनों दार्शनिकों की माया की अवधारणा के तार्किक निहितार्थों का एक तुलनात्मक और आलोचनात्मक विवेचन करेंगे जिससे माया के निषेधात्मक और भावात्मक तार्किक निहितार्थ स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा।

आचार्य शंकर ने माया के निषेधात्मक स्वरूप और पक्ष को ही प्रस्तुत किया है किन्तु श्रीअरविन्द का पूर्णाद्वैतवाद माया की अधिक युक्तिसम्मत और भावात्मक व्याख्या करता है। शंकराचार्य के समक्ष समस्या थी कि किस प्रकार एक एवं अद्वितीय ब्रह्म जो निराकार, निर्विशेष और स्थाणु है, उसके साथ इस अनेकतापूर्ण जगत् का सामंजस्य हो सकता है? इस समस्या का हल करते हुए शंकराचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्म ही सत्य है और अनेकतापूर्ण जगत् मिथ्या है। उन्होंने मायावाद (अविद्या, अज्ञान) के सिद्धान्त का प्रयोग परमसत् ब्रह्म और पूर्णतया असत् जगत् को मिलाने वाली कड़ी के रूप में किया किन्तु श्रीअरविन्द ब्रह्म और जगत् दोनों को सत्य मानते हैं, इसलिए उन्हें सृजनात्मक सिद्धान्त के रूप में अज्ञान या अविद्यारूपी किसी शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ी। श्रीअरविन्द ने अविद्या को सृष्टि की मुख्य कार्यकारी शक्ति के रूप में न ग्रहण करके एक गौण या व्युत्पत्तिक शक्ति के रूप में ग्रहण किया जो अपने मूल रूप में ज्ञान या विद्या का बहिष्कार नहीं है बल्कि उसी का एक प्रच्छन्न रूप है। यदि उन्होंने भी शांकर वेदान्त की भाँति अविद्या को ब्रह्म की एक शक्ति के रूप में ग्रहण किया होता तो ब्रह्म के मूल स्वरूप को एकीभूत और अविभक्त बनाये रखना कठिन होता और यदि उसे बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता तो शंकर के समान ही अविद्या के स्वरूप की व्याख्या करने के स्थान पर उसे अनिर्वचनीय कहना पड़ता। श्रीअरविन्द शंकर की भाँति अविद्या को जगत् या सृष्टि की बीज शक्ति नहीं मानते। वह यह भी नहीं मानते कि अविद्या – शक्ति से प्रसूत यह जगत् मिथ्या या भ्रम है। उनके अनुसार ब्रह्म सत्य है, जगत् भी सत्य है और अविद्या, जगत् या सृष्टि की प्रक्रिया में उत्पन्न ब्रह्म – चैतन्य की उद्देश्यमूलक आत्म – विस्मृति है।³

*शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

श्रीअरविन्द ने अपने दर्शन में माया का प्रयोग वैदिक अर्थ में किया है। उनके अनुसार वैदिक द्रष्टाओं के लिए माया का अर्थ था अनन्त चेतना की वह शक्ति जो अनन्त सत् के वृहत् असीम सत्य को अपने अन्दर धारण करती है, अन्तर्विष्ट रखती है और उसका परिमाण करती है अर्थात् उसमें से नाम रूप का निर्माण करती है क्योंकि रूपायित करना ही परिसीमित करना है।¹⁴ इस अर्थ में ही माया के द्वारा परम सत्ता का निश्चल सत्य सक्रिय सत्ता का व्यवस्थित सत्य बन जाता है।¹⁵ कहने का तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक सत्ता में अभेद चैतन्य विद्यमान रहता है, जिनके कारण प्रत्येक में सब कुछ और प्रत्येक सब कुछ में होता है। श्रीअरविन्द के लिए माया शून्य में जाल बुनने वाली कोई अनिर्वचनीय शक्ति नहीं है। वह परम तत्त्व सच्चिदानन्द की एक क्रीड़ा, एक लीला है। एक से अनेक का रूप धारण करना, सत् का सत् के साथ, चेतना का चेतना के साथ शक्ति का शक्ति के साथ और आनन्द का आनन्द के साथ क्रीड़ा हेतु होता है।¹⁶

श्रीअरविन्द ने माया दो प्रकार की मानी है – उच्चतर माया और निम्नतर माया। इसे ही परामाया (दिव्यमाया), अपरा माया (अदिव्य माया) भी कहते हैं। माया का निम्नतर स्वरूप मन, प्राण और शरीर की चेतना के अपरार्थ जगत् में दृष्टिगोचर होता है किन्तु माया का उच्चतर स्वरूप हमारी मानसिक सीमाओं और विभेदकारी मानसिक चेतना के कारण हमसे छिपा रहता है। निम्न स्तर पर माया के कारण मनुष्य को ऐसा लगता है कि वह सब में पृथक-पृथक रूप से विद्यमान है, परन्तु सब कुछ उसमें अपृथक रूप से विद्यमान नहीं है। उच्चतर माया का स्तर अतिमानसिक चेतना का स्तर है। इसमें प्रत्येक सब कुछ में और सब कुछ प्रत्येक में सह – अस्तित्व रखता है। परार्थ जगत् सत्-चित् (शक्ति) आनन्द से लेकर उच्चतर मन तक का जगत् है। इसकी सृष्टि उच्चतर माया के द्वारा होती है। यहाँ अनेकता की पृष्ठभूमि में एकता का ज्ञान विद्यमान रहता है। उच्चतर और निम्नतर माया का भेद वस्तुतः परा और अपरा प्रकृति का भेद है। इसमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इस स्थिति को समझ लेने पर फिर जगत् को मिथ्या, मनोमय या विचारमय नहीं कहा जा सकता। मूल चित्-शक्ति ही अतिमानसिक स्तर पर परा प्रकृति या उच्चतर माया कहलाती है और मानसिक स्तर पर अपरा प्रकृति या निम्नतर माया कहलाती है।

शांकर वेदान्त में केवल अज्ञानमयी माया का ही अस्तित्व है, दिव्य माया या अनन्त ज्ञानमयी माया का अस्तित्व नहीं है। यद्यपि श्रीअरविन्द ने भी जगत् को माया कहा है किन्तु उनका कथन माया के उस वास्तविक और भावात्मक तार्किक निहितार्थ को स्पष्ट करता है जो इस सम्बन्ध में माया के परम्परागत कथनों के अर्थ

से भिन्न है। जगत् माया है, किन्तु जगत् इस अर्थ में माया (मिथ्या) नहीं है कि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। यदि माया केवल आत्मा का स्वप्न हो तो भी स्वप्न रूप में आत्मा (ब्रह्म) में इसका अस्तित्व होगा, अन्तिम रूप में मिथ्या होने पर भी वर्तमान में तो उसके लिए यथार्थ ही होगा।

श्रीअरविन्द के समर्थक एवं अनुयायी डॉ० इन्द्रसेन का कहना है कि शंकराचार्य जिस मायावाद के सहारे जगत् को भ्रम या माया होना सिद्ध करते हैं, भौतिकीय व्यवहार का ही अंश होने के कारण स्वयं भी भ्रम या माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।¹⁷ श्रीअरविन्द कहते हैं कि अनुभवगम्य वस्तुओं का निषेध नहीं किया जा सकता है। अनुभव ही भ्रम अथवा सत्यता का आधार है। अतः जिस जगत् का अनुभव किया जा रहा है उसे मिथ्या कैसे कहा जा सकता है। जगत् को सत् कहने के विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यही हो सकती है कि जगत् में अज्ञान है तो फिर इसे परब्रह्म की सृष्टि कैसे कहा जा सकता है ? श्रीअरविन्द कहते हैं कि जगत् और इसकी अपूर्णता के होते हुए भी जगत् की रचना में एक प्रयोजन दिखाई पड़ता है। चेतना के विभिन्न स्तर दिखाई पड़ते हैं – निःश्चेतन जड़ से क्रमशः अधिक से अधिक चेतना की अभिव्यक्तियाँ विभिन्न जीवधारियों में स्पष्ट है। इस अवस्था में जगत् को प्रयोजनहीन माया अथवा मिथ्या कहने की अपेक्षा क्या यह कहना अधिक समीचीन नहीं है कि सृष्टि तथा विकास एक ही पारमार्थिक सत्ता का आत्म-विस्तार और आत्म-निर्धारण है। इस सम्बन्ध में डॉ० इन्द्रसेन का कहना है कि निःसन्देह ब्रह्म में आत्म-निर्धारण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। जगत् को पूर्ण सत् से पृथक नहीं बल्कि उसके आत्म निर्धारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।¹⁸

शांकर वेदान्त से मतैक्य रखने वाले आधुनिक चिन्तकों में प्रो० मलकानी श्रीअरविन्द के माया सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हैं। किन्तु वस्तुतः उनकी आलोचना माया के तार्किक निहितार्थों की समीक्षा पर आधारित न होकर केवल मायावाद का बौद्धिक खण्डन-मण्डन है। श्रीअरविन्द ने सत्ता के सर्वव्यापक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए माया के तार्किक निहितार्थों का जो दार्शनिक अवलोकन प्रस्तुत किया है वह न केवल सत्ता के साथ जगत् के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है बल्कि सत्ता से अनेकत्वमय जगत् के स्वरूप को और उसकी प्रक्रिया को भी स्पष्ट करता है। श्रीअरविन्द के अनुसार माया किसी तथ्य का निषेध नहीं है बल्कि विकास की एक अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्म की स्वतन्त्रता और परात्परता को अन्तर्निहित रूप से प्रतिपादित करती है। माया ब्रह्म की परात्परता को जगत् में उसकी अन्तर्व्याप्ति के साथ जोड़ती है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि मायावाद का अर्थ यदि यह हो कि विश्व सत्ता भ्रम या मिथ्या है तो यह कठिनाइयों को सुलझाने की अपेक्षा उन्हें और अधिक बढ़ा देता है, यह विश्व सत्ता की समस्या का यथार्थ में समाधान नहीं करता अपितु उसे सदा के लिए असमाधेय बना देता है। कारण, माया चाहे कोई मिथ्या (असत्य) वस्तु हो अथवा मिथ्या-यथार्थ (असत्य-सत्य) हो, हर प्रकार से मायावाद के अन्तिम परिणामों में सहज – भाव से विनाशकारी शून्यीकरण रहता है।⁹ मायावाद जगत् समस्या की ग्रन्थि को काट देता है, उसे खोलता नहीं है। यह समस्या से जान बचाकर भाग जाना है, उसका सामना करके समाधान करना नहीं है। सम्भवन के इस जगत् में देहधारी जीव के लिए उसकी आत्मा के द्वारा इस जगत् को छोड़ कर पलायन जाने में कोई पर्याप्त विजय नहीं है, इसका परिणाम यह होता है कि आत्मा प्रकृति से पृथक हो जाती है, किन्तु इससे हमारी प्रकृति की मुक्ति और परिपूर्णता नहीं होती।¹⁰ अतः माया का तार्किक निहितार्थ जगत् को मिथ्या समझना या ब्रह्म की सर्जनात्मक अवास्तविक शक्ति समझना नहीं है। माया को अनिर्वचनीय कहकर उसकी व्याख्या से बच निकलने का प्रयास सत्ता और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या तथा सत्ता से जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या करने में सफल नहीं होता बल्कि उसे और असमाधेय बना देता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि हम इसके (मायावाद के अभावात्मक स्वरूप) समर्थन में चाहे कितना ही शब्द-जाल या तर्क-जाल रच लें वास्तव में मायावाद कुछ भी व्याख्या नहीं कर पाता, यह केवल अनिर्वचनीयता का एक मानसिक सूत्र बनकर रह जाता है। उसके लिए अनन्त की शक्ति केवल भ्रमात्मक शक्ति बन जाती है और यह विश्व अनवधारणीय रह जाता है – विश्वव्यापी पागलपन का एक रहस्य – अनन्त की शाश्वत मूर्छना बनी रहती है।¹¹

यद्यपि श्रीअरविन्द के लिए सृजनात्मक प्रत्यय वास्तविक प्रत्यय है, अर्थात् चित्-शक्ति की एक ऊर्जा है जो वास्तविक सत्ता को अभिव्यक्त करती है, वास्तविक सत्ता से उत्पन्न होती है और उसकी स्वभावधर्मि है, वह न शून्य की सन्तान है और न कोरी कल्पनाओं का जाल बुनने वाली है।¹² तथापि उन्होंने यह माना है कि मायावाद के ऐतिहासिक महत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन के निषेधात्मक दृष्टिकोण और विशेष कर माध्यमिक सिद्धान्त के सर्वविनाशिकवाद या शून्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ब्रह्म की सत्ता को पुनः प्रतिष्ठित करके शंकर ने अपने माया-सिद्धान्त के बावजूद जो ऐतिहासिक कार्य किया है वह निःसन्देह प्रशंसनीय है।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद, 6.47.18
2. वृहदारण्यक उपनिषद्, 2.5.19
3. द लाइफ डिवाइन, श्रीअरविन्द, पृ0 582
4. वही, पृ0 115
5. वही, पृ0 115
6. वही, पृ0 117
7. द फिलॉसोफिकल क्वार्टरली 1944, पृ0 76
8. वही, पृ0 88-89
9. द लाइफ डिवाइन, श्रीअरविन्द, पृ0 466
10. वही, पृ0 468
11. श्रीअरविन्द पाठ मन्दिर ऐन्ड्यूवल, 1945, पृ0 203
12. द लाइफ डिवाइन, श्रीअरविन्द, पृ0 117